शोध मंथन, Impact Factor 5.463 (SJIF), UGC No. 40908 ISSN: (P): 0976-5255, (e) : 2454-339X,
Available at: *http:/shodhmanthan.anubooks.com/* https://doi.org/10.31995/shodhmanthan

भारतीय संसदीय व्यवस्था :ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

सर्वजीत नाहर
शोधार्थी,
राजनीति विज्ञान विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

सारांश

प्राचीन भारत में शासक 'धर्म' से बंधे हुए थे, कोई भी व्यक्ति धर्म का उल्लघंन नहीं कर सकता था। ऐसे पर्याप्त प्रभाव सामने आए हैं, जिनसे पता चलता है कि प्राचीन भारत के अनेक भागो में गणतंत्र शासन–प्रणाली, प्रतिनिधि–विचारण–मंडल और स्थानीय स्वशासी संस्थांए विद्यमान थीं और वैदिक काल (3000–1000ई0पू0 के आसपास) से ही लोकतांत्रिक चिंतन तथा व्यवहार लोगो के जीवन के विभिन्न पहलुओं में घर कर गए थे। ऋग्वेद में ''सभा'' तथा ''समिति'' नामक दो संस्थाओ का उल्लेख है। वहीं से आधुनिक संसद की शुरूआत मानी जा सकती है। ऐसा ज्ञात होता है कि आधुनिक संसदीय लोकमत के कुछ महत्वपूर्ण तत्व, जैसे निर्बाध चर्चा और बहुमत द्वारा निर्णय तब भी विद्यमान थे। यद्यपि इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि प्राचीन भारतीय राजनीतिक व्यवस्था मुख्यतया राजतंत्रवादी हुआ करती थी, फिर भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहाँ राजा का चुनाव होता था। अधिकांश विद्वान इस बात से सहमत है कि भारत में सर्वप्रथम जनतन्त्र का उदय हुआ और राजतन्त्र के प्रति भावना आदिकाल से हो रही है। भारत में केन्द्रीय विधानमंडल की पहली धुंधली षुरूआत 1833 के चार्टर अधिनियम से हुई जिसके द्वारा भारतीय शासन प्रणाली में और भारत सरकार की विधायी शक्तियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना 1885 में हुई। इससे भारत में साम्राज्यवादी नियंत्रण धीरे–धीर कम होने की और उत्तरदायी सरकार के विकास की प्रक्रिया की शुरूआत हुई। अंग्रेजों की पद्धति पर आधारित संसदी व्यवस्था का आरंभ बाद में हुआ जबकि इसकी जड़ें प्राचीन भारत में पहले से विद्यमान थी। स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय में भारतीय नेताओं ने इसका अनुमान किया कि यही पद्धति देश के लिए उपयुक्त हैं अतः संविधान सभा ने इसे स्वीकार किया।

प्राचीन युग

लोकतंत्र, प्रतिनिधि–संस्थान, शासकों की स्वेच्छाचारी शाक्तियों पर अंकुश और विधि के शासन की संकल्पनाएं प्राचीन भारत के लिए पराई नहीं थी। धर्म की सर्वोच्चता की संकल्पना विधि के शासन या नियंत्रित सरकारी की संकल्पना से भिन्न नहीं थी। प्राचीन भारत में शासक 'धर्म'से बंधे हुए थे, कोई भी व्यक्ति धर्म का उल्लघंन नहीं कर सकता था। ऐसे पर्याप्त प्रभाव

सामने आए हैं, जिनसे पता चलता है कि प्राचीन भारत के अनेक भागो में गणतंत्र शासन–प्रणाली, प्रतिनिधि–विचारण–मंडल और स्थानीय स्वशासी संस्थांए विद्यमान थीं और वैदिक काल (3000–1000ई0पू0 के आसपास) से ही लोकतांत्रिक चिंतन तथा व्यवहार लोगो के जीवन के विभिन्न पहलुओं में घर कर गए थे। ऋग्वेद में ''सभा'' तथा ''समिति'' नामक दो संस्थाओ का उल्लेख है। वहीं से आधुनिक संसद की शुरूआत मानी जा सकती है। इन दो संस्थाओं का दर्जा और इनके कृत्य अलग–अलग थे। 'समिति' एक आम सभा या लोकसभा हुआ करती थी और ''सभा'' अपेक्षाकृत छोटा और चयनित वरिष्ठ लोगो का निकाय, जो मौटे तौर पर आधुनिक विधान मंडलो में उपरि सदन के समान था। वैदिक ग्रंथों में ऐसे अनेक संकेत मिलते है जिनसे पता चलता है कि ये दो निकाय राज्य के कार्यो से निकट का संबंध रखते है और इन्हें पर्याप्त प्राधिकार, प्रभुत्व एवं सम्मान प्राप्त था। ऐसा ज्ञात होता है कि आधुनिक संसदीय लोकमत के कुछ महत्वपूर्ण तत्व, जैसे निर्बाध चर्चा और बहुमत द्वारा निर्णय तब भी विद्यमान थे। बहुमत से हुआ निर्णय 'अलंघनीय' माना जाता था जिसकी अवहेलना नहीं हो सकती थी क्योंकि जब एक सभा में अनेक लोग मिलते हैं और वहां एक आवाज से बोलते है तो उस आवाज या बहुमत की अन्य लोगों द्वारा उपेक्षा नहीं की जा सकती । वास्तव में प्राचीन भारतीय समाज का मूल सिद्धान्त यह था कि शासन का कार्य किसी एक व्यक्ति की इच्छानुसार नहीं बल्कि पार्षदों की सहायता से संयुक्त रूप से होना चाहिए। पार्शदों का परामर्श आदर से माना जाता है। वैदिक काल के राजनीतिक सिद्धान्त के अनुसार 'धर्म' का वास्तव में प्रभुत्व दिया जाता था और 'धर्म' अथवा विधि द्वारा शासन के सिद्धान्त को राजा द्वारा मान लिया जाता था और लागू किया जाता था। आदर्श यह था कि राजा को शक्तियँा जनेच्छा और रीति–रिवाजों, प्रथाओं और धर्मशास्त्रों के आदेशों द्वारा सीमित होती थीं। राजा को विधि तथा अपने क्षेत्र के विधान के प्रति निष्ठा की शपथ लेनी पड़ती थी और अपनी जनता के भौतिक तथा नैतिक कल्याण के लिए राज्य को न्यास अथवा ट्रस्ट के रूप में रखना होता था। यद्यपि इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि प्राचीन भारतीय राजनीतिक व्यवस्था मुख्यतया राजतंत्रवादी हुआ करती थी, फिर भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहाँ राजा का चुनाव होता था। जो भी हो, कुछ लोकतंत्रात्मक संस्थाए एवं प्रथाएं प्रायः हमारी राजतंत्रीय शासन प्रणाली का सदा अभिन्न अंग रही।

''आत्रेय ब्राहमण'', पाणिनि की 'अष्टाध्यायी कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र', 'महाभारत', अशोक स्तंभो के शिलालेखों, समकालीन यूनानी इतिहासकारों तथा बौद्ध एवं जैन विद्वानों द्वारा लिखित ग्रंथों में तथा 'मनुस्मृति' में इस तथ्य के पर्याप्त ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं कि वैदिकोत्तर काल में अनेक गणराज्य भी थें। उन गणराज्यों में, जो 'समधा' अथवा गणराज्य के नाम से जाने जाते थे, प्रभुसत्ता एक बहुत बडी सभी में निहित रहती थी और उस सभा के सदस्य न केवल कार्यपालिका के सदस्यों को, बल्कि सैनिक प्रमुखों को भी चुना करते थे। वही वैदेशिक कार्यों को नियंत्रित रखती थी और शांति और युद्ध जैसे मामलों का फैसला भी करती थी। इसके अतिरिक्त, कार्यपालिका पर निर्वाचित सभा का पूर्ण नियंत्रण रहता था। पाली में लिखित ग्रंथों में इस विषय में दिलचस्प ब्यौरे मिलते है कि प्राचीन गणराज्यों में सभाओं में क्या–क्या प्रथाएँ

एवं प्रकियाएँ अपनाई जाती थीं जो कुछ विद्वानों के अनुसार 'आधुनिकतम स्वरूप के विधि एवं संवैधानिक' सिद्धांतों पर आधारित थी। उदाहरण के तौर पर, सभा का अपना अध्यक्ष हुआ करता था जिसे 'विनयधार' कहा जाता था और सचेतक भी हुआ करता था जिसे 'गणपूरक' कहा जाता था। 'विनयधार' संकल्प, गणपूर्ति का अभाव, बहुमत द्वारा मतदान, इत्यादि जैसे प्रक्रियागत उपयों एवं शब्दावली से परिचित होता था। सभा में चर्चाए स्वतंत्र, स्वच्छ एवं निर्बाध हुआ करती थी। मतदान शलाकाओं (टिकटों) द्वारा होता था जो विभिन्न मतों का प्रतिनिधि करने वाली भिन्न–भिन्न रंगों की लकड़ी की पट्टियां होती थी। जटिल और गंभीर मामले प्रायः सभा के सदस्यों में से चुनी गई विशेष समिति के पास भेजे जाते थे।

निचले स्तर पर लोकतंत्र प्रादेशिक परिषदों (जनपद), नगर परिषदों (पौर सभा) और ग्राम सभाओं के रूप में विद्यमान था। ये निकाय स्थानीय कार्यो की देखरेख पूरी स्वाधीनता से करते थे जिसमें स्थानीय उपक्रम एवं स्वशासन का तत्व रहता था। 'अर्थशास्त्र', 'महाभारत' और 'मनुस्मृति' में 'ग्राम संघ' विद्यमान होने का अनेकों स्थानों पर उल्लेख मिलता है। उन दिनों ग्राम सभाओं, ग्राम संघो अथवा पंचायत जैसे निर्वाचित स्थानीय निकाय साधारणतया भारतीय राजनीति व्यवस्था के अंग होते थे। 'सभा' और 'समिति' जैसी लोकतंत्रात्मक संस्थाए तथा गणराज्य तो बाद में लुप्त हो गए परन्तु ग्राम स्तर पर 'ग्राम संघ', 'ग्राम सभाएं' अथवा 'पंचायते' अनेक हिंदू तथा मुस्लिम राजवंशो के शाासनकाल में अस्तित्व में रहीं तथा ब्रिटिश शासकों के आगमन तक और उसके पश्चात् भी किसी न किसी रूप में प्रभावी संस्थाओ के रूप में कार्य करती रही और फलती फूलती रही।

प्राचीन भारत के राजनीतिक जीवन में कानून का पर्याप्त महत्व था। कानून के बल पर समाज में शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना की जाती थी। कानून के निर्माण के लिए समय–समय पर जिन संस्थाओं का संगठन होता रहा वे भारत के राजनीतिक इतिहास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। प्राचीन भारत के गणराज्यों में आधुनिक संसद से मिलती हुई व्यवस्थापिका विद्यमान थी। इसका शासन के कार्यों पर बड़ा प्रभाव रहता था। राजतन्त्रात्मक शासन पद्धति में भी कानून व्यवस्थापिका संस्थाओं का काफी महत्व था। वैदिक साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उस समय के प्रायः सभी राज्यों में व्यवस्थापिकाएँ राजाओं के नियन्त्रण में कार्य करती थी। वैदिक कालीन राज्य आकार में अधिक बड़े न थे। इनकी राजधानी का आकार भी गाँवों से अधिक बड़ा नहीं होता था। प्रत्येक राज्य के अर्न्तगत ग्राम में जनता की 'सभा' कार्य करती थी और राजधानी समूचे राज्य की एक केन्द्रीय व्यवस्थापिका होती थी जिसे 'समिति' कहा जाता था। 'सभा' और 'समिति' दोनों का वैदिक साहित्य में विशेष उल्लेख है। प्राचीन भारतीय राजनीति के प्रायः सभी विद्वान यह मानते हैं कि यहां की राजनीतिक प्रणाली में सभा, समिति, विदथ, परिषद, संग्राम आदि का विशेष प्रचलन था। वैदिक–कालीन शासन–प्रणाली का रूप राजतन्त्रात्मक होते हुए भी उस समय 'सभा' एवं 'समिति' जैसी लोकप्रिय संस्थाओं का प्रचलन प्रजातान्त्रिक विचारों का प्रतीक है। कुछ विद्वानों का मत है कि वैदिक–काल में ''राजा का पद निर्वाचित होता था और उसका निर्वाचन जनता के प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता था। एन0जे0 शिन्दें के

मतानुसार राजा का राज्य के अध्यक्ष के रूप में निर्वाचन सभा या समिति के द्वारा किया जाता था।''

प्रारम्भिक काल में हिन्दू राज्य व्यवस्था का रूप क्या था इसका अनुमान प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त सामग्री के आधार पर ही लगाया जा सकता है। अधिकांश विद्वान इस बात से सहमत हैं कि प्राचीन भारत में प्रजातन्त्रात्मक शासन–व्यवस्था राजतन्त्र की पूर्ववर्ती थी अथवा अनुवर्ती इस संबध में मतैक्य नहीं है। गणतन्त्रों का उदय प्रारम्भिक वैदिक काल तथा राजतन्त्र के बाद हुआ। डॉ0 वर्मा के अनुसार, ''प्राचीन भारत की गणतन्त्रीय संस्थाओं का परिचय प्राप्त कर उन विद्वानों को आश्चर्य होता है जो निरंकुश श्रमतन्त्रात्मक और स्वेच्छाचारी शासन का एशिया में सरकार का एक मात्र रूप मानते हैं।'' एक लेखक की मान्यता है कि , ''भारतीय विद्वानों ने सर्वप्रथम जनतन्त्र शासन की ही कल्पना की थी। भारत में राज्य की उत्पति सर्वप्रथम जनतन्त्र के रूप में ही हुई थी और वैदिक काल में ही जनतन्त्र का रूप पूर्णतः विकसित हो चुका था। कालान्तर में जनतन्त्र शासन में कुछ दोष उत्पन्न हो गए, इस कारण जनतन्त्र के रूप में भी कुछ परिवर्तन करने पड़े और शासन का रूप जनतन्त्र की ओर झुका।'' गणतंत्र तथा राजतंत्र भी निरंकुश नहीं था। राजा प्रजा की रक्षा करते थे। धर्म का अर्थ से 'त्मसपहपवद' भिन्न था। मुगल काल में एकीकृत शासन पद्धति का विकास हुआ।

''आज अधिकांश विद्वान इस बात से सहमत है कि भारत में सर्वप्रथम जनतन्त्र का उदय हुआ और राजतन्त्र के प्रति भावना आदिकाल से हो रही है और समय–समय पर वे इसे वास्तविक जीवन में उतारते रहे हैं। जब कभी भारतीय राजनीति में जनतन्त्रात्मक व्यवस्था विलीन हुई तो इसके साथ ही जनतन्त्रीय भावना समाप्त न हो सकी। सम्भवतः यही कारण है कि राजतन्त्रीय शासक भी जनता की स्वीकृति से शासन चलाने में रूचि लेते थे।''

उपनिवेशवादी युग

आधुनिक अर्थो में संसदीय शासन प्रणाली एवं विधायी संस्थाओं का उद्भव एवं विकास लगभग दो शताब्दियों तक ब्रिटेन के साथ भारत के संबंधों से जुड़ा हुआ है। परन्तु यह मान लेना गलत होगा कि बिल्कुल ब्रिटेन जैसी संस्थाएँ किसी समय भारत में प्रतिस्थापित हो गई। जिस रूप में भारत की संसद और संसदीय संस्थाओं को आज हम जानते हैं कि उनका विकास भारत में ही हुआ है। इनका विकास विदेशी शासन से मुक्ति के लिए और स्वतंत्र लोकतंत्रात्मक संस्थाओं की स्थापना के लिए किए गए अनेक संघर्षों और ब्रिटिश शासकों द्वारा छोटे–छोटे टुकड़ों में दिए गए संवैधानिक सुधारों के द्वारा हुआ।

भारत में केन्द्रीय विधानमंडल की पहली धुंधली शुरूआत 1833 के चार्टर अधिनियम से हुई जिसके द्वारा भारतीय शासन प्रणाली में और भारत सरकार की विधायी शक्तियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। इस अधिनियम के द्वारा भारत में सब ब्रिटिश राज्य क्षेत्रों के लिए एक विधान परिषद की स्थापना की गई। वह पहला अवसर था जबकि गर्वनर–जनरल की सरकार 'भारत सरकार' के नाम से जानी जाने लगी और उसकी कौंसिल 'इंडियन–कौंसिल' के नाम से। गर्वनर–जनरल की कौंसिल की विधि–निर्माण बैठकों और कार्यपालिका बैठकों में भेद करके इस

अधिनियम द्वारा संस्थागत विशेषज्ञता का तत्व भी जोड़ा गया। गर्वनर–जनरल की कौंसिल के कार्यपालिका तथा विधायी कृत्यों में इस अधिनियम के द्वारा जो भेद किया गया उसके परिणाम–स्वरूप एक 'चौथा' अथवा विधायी सदस्य शामिल किया गया और इस पद पर विशिष्ठ विधिवेत्ता लार्ड मैकाले को नियुक्त किया गया। इस प्रकार, 1833 के अधिनियम में कार्यपालिका परिषद से भिन्न एक विधान परिषद के बीज दिखाई पड़ते हैं, यद्यपि बाद तक इस नाम का उपयोग नहीं हुआ।

1853 का अधिनियम अंतिम चार्टर अधिनियम था जिसके द्वारा गर्वनर–जनरल की कौंसिल में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। कौंसिल के 'चौथे' अथवा विधायी सदस्य को कार्यपालिका बैठकों में उपस्थित होने और मतदान करने का अधिकार देकर उसे अन्य सदस्यों के बराबर का दर्जा प्रदान किया गया। इसके साथ ही, छह विशेष सदस्य शामिल करके, जिन्हें 'विद्यार्थी पार्षद का पदनाम दिया गया, विद्यार्थी प्रयोजनों के लिए कौंसिल का विस्तार किया गया। इस प्रकार, गर्वनर–जनरल तथा कमांडर–इन–चीफ के अतिरिक्त, 1853 के अधिनियम के अधीन गठित कौंसिल में बारह सदस्य थे। कौंसिल जब विद्यार्थी निकाय के रूप में कार्य करती थी तो वहाँ चर्चा लिखित न होकर मौखिक होती थी, विधेयक किसी एक सदस्य के पास भेजने के बजाए प्रवर समितियों के पास भेजे जाते थे, विधान कार्य गोपनीय होने के बजाय सार्वजनिक रूप से किया जाता था और कार्यवाहियों के वृतांत सरकारी तौर पर प्रकाशित किए जाते थें। इस प्रकार, विधानमंडल और कार्यपालिका में भेद करने की दिषा में महत्वपूर्ण कदम उठाया गया। नयी कौंसिल के कर्तव्य विधान बनाने तक ही सीमित नहीं रहे बल्कि, जैसा कि मांटेगु–चेम्सफोर्ड रिपोर्ट (1918) में कहा गया, 'संसद के आशयों के विपरीत, इसने शिकायतों की जांच करने और उन्हें दूर करने के प्रयोजनार्थ समवेत लघु प्रतिनिधि सभा का रूप धारण करना आरंभ कर दिया।' 1861 के इंडियन कौंसिल अधिनियम का उदेद्ष्य गर्वनर–जनरल की कौंसिल के गठन के लिए बेहतर व्यवस्था करना और अनेक प्रेजिडिसियों तथा प्रातों की स्थानीय सरकार के लिए व्यवस्था करना था। इस अधिनियम को 'भारतीय विधानमंडल का प्रमुख घोषणापत्र' कहा गया जिसके द्वारा 'भारत में विधायी अधिकारों के अंतरण की प्रणाली' का उद्घाटन हुआ। इस अधिनियम द्वारा केन्द्रीय एवं प्रांतीय स्तरों पर विधान बनाने की व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। इसके अधीन गर्वनर–जनरल की कौंसिल पुर्नगठित की गई और तत्पश्चात उसके लिए अब तक के चार के स्थान पर पांच साधारण सदस्यों की व्यवस्था की गई। संवैधानिक विकास की दृष्टि से 1861 के अधिनियम के परिणामस्वरूप पहले की स्थिति में सुधार हुआ क्योंकि अंग्रेजीं राज के भारत में जमने के पश्चात् इसमें पहली बार विधायी निकायों में गैर–सरकारी व्यक्तियों के प्रतिनिधित्व के महत्वपूर्ण सिद्धांत को स्वीकार किया गया। इसके अतिरिक्त, तत्पष्चात् विधान उचित विचार–विमर्श के बाद बनाए गए और वे नियमित विधान थे जो केवल उसी प्रक्रिया से वे बने थे। इस प्रकार कार्यपालिका द्वारा बनाए जाने के दिन व्यवहारिक रूप से बीत गए और यह समझा जाने लगाकि विधान बनाना केवल कार्यपालिका का ही कार्य नहीं है।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना 1885 में हुई। इससे भारत में साम्राज्यवादी

नियंत्रण धीरे–धीर कम होने की और उत्तरदायी सरकार के विकास की प्रक्रिया की शुरूआत हुई। कांग्रेस ने प्रारंभ से ही अपने सार्वजनिक जीवन का मुख्य आधार यह बनाया कि देश में धीरे–धीरे प्रतिनिधि संस्थाए बनें। कांग्रेस का विचार था कि कौंसिल में सुधार से ही अन्य सब व्यवस्थाओं में सुधार हो सकता है। कांग्रेस के पाँचवें अधिवेशन, (मुंबई, 1889) में इस विलय पर बोलते हुए सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा, 'यदि कौंसिल में सुधार हो जाता है तो आपको और सभी कुछ मिल जाएगा। हमारे देश का भविष्य और हमारी प्रशासनिक व्यवस्था का भविष्य इसी पर निर्भर करता है।'

1892 का भारतीय शासन अधिनियम, कम से कम अंशतः प्रतिनिधि संस्थाओं के लिए बढ़ती हुई भारतीय मांग को स्वीकार करने की दिशा में एक कदम था। ब्रिटिश संसद द्वारा विधानपरिषदों में भारत की जनता को वास्तव में प्रतिनिधत्व देने की दृष्टि से भारतीय शासन अधिनियम 1892 को स्वीकृति प्रदान करना इन अर्थो में कांग्रेस की विजय माना गया कि ब्रिटिश सरकार ने पहली बार 'परिवर्द्धित परिषदों में प्रतिनिधित्व की बात को मान्यता दी। विधान परिषद के सदस्यों को भी प्रश्न पूछने, अर्थात् महत्वपूर्ण विषयों पर जानकारी प्राप्त करने की दृष्टि से सरकारी सदस्यों से पूछताछ करने का अधिकार दिया गया। इस अधिकार का, जो किसी भी विधानमंडल का एक मौलिक अधिकार होता है, प्रयोग उस समय कभी कभार ही किया गया, परंतु यह अधिकार प्राप्त हो जाना संसदीय संस्था के विकास में एक निश्चयात्मक कदम था। 1892 के अधिनियम के परिणामस्वरूप विधान परिषदों में प्रतिनिधिक तत्व आया और परिषदों के कार्यकरण पर लगे प्रतिबंधों में कुछ ढील दी गई।

देश के कार्यों में और अधिक एवं प्रभावी प्रतिनिधित्व के लिए कांग्रेस द्वारा जो सतत अभियान चलाया गया, उसके फलस्वरूप 1908 के मोरले–मिंटो सुधार प्रस्ताव आए। मोरले–मिंटो संवैधानिक सुधारों की योजना को भारतीय शासन अधिनियम, 1909 द्वारा कार्यरूप दिया गया। इसके अधीन सदस्यों को बजट पर और साम्राज्य सार्वजनिक हित के किसी भी मामले पर संकल्प पेश करने और उन पर परिषद में मतदान कराने का अधिकार दिया गया। संकल्प सरकार के लिए सिफारिषों का रूप ले सकते थे परन्तु सरकार उन्हें स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं थीं। 1909 में जो सुधार हुए उनमें सबसे बडी त्रुटि यह थी कि पृथक अथवा सांप्रदायिक आधार पर निर्वाचन की पद्धति लागू की गई। जिसके अनुसार मुसलमानों, वाणिज्य–मंडलों, जमींदारों इत्यादि जैसे विशेष हितों के लिए परिषदों में प्रतिनिधित्व एवं स्थानों के आरक्षण की व्यवस्था की गई। 1857 के विद्रोह के दमन के पश्चात धर्म निरपेक्ष भारतीय राष्ट्रवाद को इससे सबसे अधिक धक्का पहुँचा औंर यह ब्रिटेन की 'फूट डालो और राज करो' की नीति की वास्तव में सबसे बडी विजय थी। सरदार पाणिकर के शब्दों में 'यह घृणित ट्रि–राष्ट्र सिद्धांत की प्रथम अभिव्यक्ति थी जिससे अंत में देश का विभाजन हुआ।

1919 के सुधार अधिनियम और उसके अधीन बनाए गए नियमों द्वारा भारतीय संवैधानिक व्यवस्था में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। केंद्र में भारतीय विधान परिषद के स्थान पर द्विसदनीय विधानमंडल बनाया गया जिसमें एक था राज्य परिषद (कौंसिल ऑफ स्टेट)

और दूसरा था विधानसभा (निम्न सदन) और प्रत्येक सदन में अधिकांश सदस्य निर्वाचित होते थे। राज्य परिषद में सांविधिक नियमों के अनुसार मनोनीत अथवा निर्वाचित अधिक से अधिक 60 सदस्य और इनमें से अधिक से अधिक 20 सरकारी सदस्य होने की व्यवस्था थी। 1919 के अधिनियम के अधीन गठित प्रथम विधानसभा वर्ष 1921 में अस्तित्व में आई। उसे कुल 145 सदस्य थे। 104 निर्वाचित – 52 सामान्य, 30 मुस्लिम, 9 यूरोपीय, 7 भूस्वामी, 4 वाणिज्यिक तथा 2 सिख निर्वाचन क्षेत्रो से– 26 सरकारी सदस्य और 25 मनोनीत गैर–सरकारी सदस्य थे।

दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य प्रत्यक्ष रूप से चुने गए थे परंतु मताधिकार बहुत ही सीमित था जो संपत्ति तथा कर अथवा शिक्षा सबंधी अर्हताओं पर आधारित था। 1919 के अधिनियम के अधीन उस प्रणाली के अनुसार जो 'सिद्धांत' (डाईआर्की) के नाम से प्रसिद्ध हुई, प्रातों में तो आंशिक रूप से उत्तरदायी सरकारी स्थापित की गई परंतु केंद्र में उत्तरदायित्व का कोई तत्व नहीं था और गर्वनर–जनरल–नून–कौंसिल का भारत के लिए केवल भारत सचिव (सैक्रेटरी आफ स्टेट) के प्रति और उसके द्वारा ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायित्व बना रहा। केंद्रीय विधानमंडल का स्वरूप यद्यपि पहली विधान परिषदों की अपेक्षा अधिक प्रतिनिधिक था और उसे पहली बार आपूर्तियों की स्वीकृति देने की शक्ति प्राप्त थी तथापि उसे सरकार को बदलने की शक्ति प्राप्त नहीं थी। विधान बनाने तथा वित्तीय नियंत्रण के क्षेत्र में भी उसकी शक्तियँा सीमित थी और वे गर्वनर–जनरल की सर्वोपरि शक्तियों के अधीन थीं। केंद्रीय विधानमंडल का उद्‌भव ऐतिहासिक महत्व की बात थी। यह पहला अवसर था जबकि विधान बनाने में और सरकार की नीतियों को प्रभावित करने में जन–प्रतिनिधियों की आवाज सुनी गई। लोकमान्य तिलक ने 1919 के सुधारों को 'असंतोषजनक, निराशाजनक और प्रकाशहीन सूर्य' बताया। श्रीमती एनीबेसेंट ने घोषणा की कि यह योजना 'ब्रिटेन द्वारा पेश किए जाने और भारत द्वारा स्वीकार किए जाने योग्य नहीं है। इस प्रकार 1919 के सुधारों पर कांग्रेस में एक तरह की दरार पैदा हो गई। 1918 में कांग्रेस को छोड़ने वाले कुछ नरमपंथियों ने सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के नेतृत्व में नेशनल लिबरेशन फेडेरेशन नामक एक अलग संगठन बना लिया था। इन नरमपंथियों ने सुधारों का स्वागत किया परंतु कांग्रेस ने अपने 1919 के अमृतसर अधिवेशन में उन्हें 'अपर्याप्त, असंतोषजनक एवं निराशाजनक बताया।

1919 के अधिनियम के संवैधानिक सुधार 1921 में लागू हुए। देश के सबसे बड़े और सबसे अधिक प्रभावशाली राजनीतिक दल, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1920–21 के निर्वाचनों का बहिष्कार किया और इस प्रकार जो विधानमंडल 1921 में बने उनमें उसका प्रतिनिधत्व नहीं था। केवल नरमपंथियों ने जो 1918 में कांग्रेस को छोड़ गए थे, ने ही निर्वाचनों में सक्रिय रूप से भाग लिया और इस दल के अनेक प्रसिद्ध सदस्य विधानमंडल के लिए निर्वाचित हुए। 1923 में सी0आर0 दास और पंडित मोतीलाल नेहरू ने स्वराज पार्टी बनाई जिसकी नीति यह थी कि चुनाव लड़े जाएँ और व्यवस्था को बदलने या 'शत्रु के कैंप' में प्रवेश करके व्यवस्था को तोड़ने की दृष्टि से परिशदों में स्थान प्राप्त किया जाए। स्वराज पार्टी के नेताओं ने यह कहकर विधानमंडलो में प्रवेश को उचित ठहराया कि विद्यमान परिस्थितियों में प्रशासन व्यवस्था को

निरर्थक एवं अप्रभावी बनाने का यही सबसे अच्छा तरीका है।

1920 से 1935 तक के वर्ष बहुत महत्वपूर्ण थे। इन वर्षों में देश में बहुत राजनीतिक चेतना पैदा हुई। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने एक जन संगठन का रूप ले लिया। 1919 के अधिनियम में व्यवस्था थी कि दस वर्षों की अवधि व्यतीत हो जाने पर एक रायल कमीशन नियुक्त किया जाए जो ब्रिटिश इंडिया में शासन प्रणाली के कार्यकरण की तथा प्रतिनिधि संस्थाओं के विकास की जाँच करें। कमीशन के मई 1930 में प्रकाशित प्रतिवेदन को सब राजनीतिक दलों द्वारा अस्वीकार कर दिया गया। इस बीच जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1929 में अपने लाहौर अधिवेशन में घोषणा की चुकी थी कि 'पूर्ण स्वराज' हमारा उदेद्श्य है।

1935 के अधिनियम में यह प्रावधान था कि संघीय ढाँचें की स्थापना की जाये। इसमें संघीय विधानमण्डल में दो सदनों का प्रावधान किया गया। इसमें उच्च सदन के लिए प्रत्यक्ष निर्वाचन की और निम्न सदन के लिए अप्रत्यक्ष निर्वाचन की पद्धति अपनाई गई थी। इस अधिनियम का संघीय व्यवस्था वाला भाग कभी लागू नहीं हआ क्योंकि रियासतों को संघ में शामिल होने के लिए तैयार नहीं किया जा सका।

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम ने यह घोषित किया कि 15 अगस्त, 1947 से (जिसे 'नियतदिन' कहा गया) भारत अधीनस्थ राज्य नहीं रहा और देशी रियासतों पर ब्रिटिश सम्राट की प्रभुता तथा जनजाति क्षेंत्रों से उनके संधि सबंध उसी दिन से समाप्त हो गए। ब्रिटिश सरकार और पार्लमेन्ट का भारत के प्रशासन के लिए उत्तरदायित्व समाप्त हो जाने के कारण भारत के लिए सेक्रेटरी ऑफ स्टेट का पद भी समाप्त कर दिया गया।

संविधान सभा की प्रथम बैठक (एक अलग निकाय के रूप में) 17 नवम्बर, 1947 को संविधान सभा के अध्यक्ष डा0 राजेन्द्र प्रसाद की अध्यक्षता में हुई। संविधान सभा ने इस सिद्धांत को स्वीकार किया कि संसदीय कार्यपालिका सामूहिक रूप से संसद के निर्वाचित सदन के प्रति उत्तरदायी हो। 4 नवम्बर 1948 को संविधान का प्रारूप संविधान सभा में पेश करते हुए और संसदीय शासन प्रणाली के लिए सिफारिश करते हुए, प्रारूप समिति के सभापति बी0आर0 अम्बेडकर ने कहा कि संविधान के प्रारूप में संसदीय शासन प्रणाली की सिफारिश करते हुए अधिक स्थिरता की अपेक्षा अधिक उत्तरदायित्व को तरजीह दी गई है। इस पर संविधान संभा में पर्याप्त वाद–विवाद हुआ परन्तु 26 जनवरी, 1950 को स्वतंत्र भारत के गणराज्य का संविधान लागू हो जाने से आधुनिक संस्थागत ढाँचे और उसकी अन्य सब शाखा–प्रशाखाओं सहित पूर्ण संसदीय शासन प्रणाली स्थापित हो गई।

अतः स्पष्ट है कि अंग्रेजों की पद्धति पर आधारित संसदी व्यवस्था का आरंभ बाद में हुआ जबकि इसकी जड़ें प्राचीन भारत में पहले से विद्यमान थी। इस प्रणाली को अपनाने का एक कारण यह भी था कि ब्रिटिश शासन के लम्बे अनुभव भी हमारे पास थे। स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय में भारतीय नेताओं ने इसका अनुमान किया कि यही पद्धति देश के लिए उपयुक्त हैं अतः संविधान सभा ने इसे स्वीकार किया। संविधानकारों की इन इच्छाओं के अनुरूप संसदीय

व्यवस्था ने कहाँ तक कार्य किया है इस पर विचार करने की आवश्यकता है।

संदर्भ ग्रंथ

1 डॉ0 सुभाष कश्यप; *हमारी संसद,* 1991, नेशनल बुक ट्रस्ट ऑफ इण्डिया, पृष्ठः **01**

2 एन0 जे0 शिंदे; *रीलीजन फिलॉसफी ऑफ अथर्ववेदा,* 1952, भण्डारकर ऑरियण्टल रिसर्च इन्सटीट्यूट्, पृष्ठः**75**

3 जॉन डब्लू स्पील मेन; *पॉलिटिकल थ्योरी ऑफ एनशियंट इण्डिया,* 1964,क्लारेंडन प्रेस ऑक्सफोर्ड, पृष्ठः**95**

4 डॉ0 वी0 पी0 वर्मा; *स्टडीज इन हिन्दू पॉलिटिकल थॉटस एण्ड मेटाफिजिकल फाउंडेशन्स,* 1974,मोतीलाल बनारसी दास इंडोलोजिकल पब्लिशर्स एण्ड बुकसेलर्स, पृष्ठः**58**

5 डॉ0 देवीदत्त शुक्ला; *प्राचीन भारत में जनतन्त्र,* 1966, मोतीलाल बनारसी दास इंडोलोजिकल पब्लिशर्स एण्ड बुकसेलर्स, पृष्ठः**95**

6 डॉ0 हरिश्चन्द्र शर्मा; *प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ,* 2007, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठः **317**